

प्रवचन-३७, गाथा-३९, श्लोक-५५, मंगलवार, श्रावण शुक्ल २, दिनांक १२-०८-१९८०

निर्विकल्प तत्त्व का स्वरूप। यह आत्मा निर्विकल्प क्या है? यही दृष्टि करनेयोग्य, आचरण करनेयोग्य और ज्ञान करनेयोग्य है। निर्विकल्प वस्तु अन्दर क्या है, उसकी बात है।

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।

णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ॥३९॥

हरिगीत—

मानापमान, स्वभाव के नहीं स्थान होते जीव के।

होते न हर्षस्थान भी, नहीं स्थान और अहर्ष के ॥३९॥

टीका:—यह, निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है। इसकी विशिष्टता क्या है? देखो! कि णो खलु सहावठाणा णो शब्द है। पाठ ऐसा है कि जीव को स्वभाव के स्थान नहीं, परन्तु उस स्वभाव का अर्थ, विकार और उदयभाव की बात है। समझ में आया? भाषा स्वभाव ली है। कोई विवाद करे कि विकार को स्वभाव क्यों कहा? यह बड़ी चर्चा हुई थी। कर्म के निमित्त से जो विकार होता है, उसे स्वभाव क्यों कहा? पाठ तो यहाँ यह है णो खलु सहावठाणा क्या कहते हैं? त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है। भगवान् आत्मा... आहाहा! पूर्णानन्द प्रभु, दृष्टि में जो उपादेय / आदरणीय है, तब इसे सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! धर्म की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन। उस सम्यग्दर्शन का विषय क्या? आश्रय क्या? किसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है? निर्विकल्प तत्त्व के अवलम्बन से होता है। तो निर्विकल्प तत्त्व क्या है? सूक्ष्म बात है, भाई!

त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है,... भगवान् द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है,... आहाहा! जिसमें शरीर, वाणी, मकान, पैसा यह तो है ही नहीं; जिसमें राग, दया, दान के विकल्प हैं, उन्हें यहाँ सहावठाणा कहा है। है विभाव, परन्तु पर्याय का स्वभाव है। आहाहा! यह (संवत्) २०१३ के वर्ष में बहुत बड़ी चर्चा हुई थी। ऐसा कि विकार है, वह कर्म के निमित्त से उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं। निमित्त से कहने में आता है। वह तो स्वयं से उत्पन्न होता है। तो कहे - यदि स्वयं से उत्पन्न होता है तो वह तो स्वभाव हो जाता है। परन्तु वह स्वभाव ही है। पर्याय का विकाररूप स्वभाव ही है। यह

यहाँ कहते हैं। **णो खलु सहावठाणा शुद्धस्वभाव की बात नहीं है। है ? देखो ! त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है,...** भगवान आत्मा... आहाहा ! कभी दृष्टि नहीं की, कभी भी नजर में निधान को नहीं लिया। आहाहा ! और क्रियाकाण्ड करके मानो कल्याण हो जायेगा। व्रत, नियम, ऐसे शुभयोग की क्रिया से अन्दर में कल्याण हो जायेगा... तो यहाँ यह कहते हैं कि शुभयोग विकार स्वभाव, वह आत्मा में है ही नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? **त्रिकाल-निरुपाधि...** यहाँ त्रिकाल शब्द लिया है, देखो ! है तो वर्तमान त्रिकाली निरुपाधि, परन्तु त्रिकाल रहनेवाली चीज़ जो भगवान आत्मा, शुद्ध (आत्मा) आनन्दकन्द कारणपरमात्मा, ज्ञायकभाव कहो, परमपारिणामिकस्वभाव कहो, द्रव्यस्वभाव कहो, **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को...** जीव शब्द नहीं लिया। जीवास्तिकाय लिया है, क्योंकि असंख्य प्रदेशी है। यह जैन परमेश्वर के अतिरिक्त किसी ने देखा ही नहीं। तो जीवास्तिकाय। यह एक शब्द। एक-एक आत्मा। जीव, अस्ति, असंख्यप्रदेशी काय, वह जीवास्तिकाय। असंख्यप्रदेश का समूह है न ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा अन्दर में राग-द्वेष के सब विकल्प हैं, उनसे प्रभु तो अन्दर भिन्न है और वे राग-द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति को यहाँ स्वभावस्थान कहने में आया है। है इसका विभाव, परन्तु इसकी पर्याय में होता है और वही पर्याय का स्वभाव है; द्रव्य का स्वभाव नहीं। आहाहा ! **ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय...** ऐसा शुद्ध जीव, ऐसा नहीं लिया। अधिकार कौन सा चलता है ? शुद्धभाव। अतः शुद्धभाव कहो, या त्रिकाली निरुपाधि शुद्ध जीवास्तिकाय कहो। क्या कहा ? शुद्धभाव कहो या **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय...** कहो। यह शुद्धभाव पर्याय की बात नहीं है। शुद्धभाव अधिकार है, वह शुद्धभाव पर्याय की बात नहीं है। आहाहा ! अरे ! इसे कहाँ नजर है। आहाहा !

जहाँ भगवान परिपूर्ण स्वभाव विराजता है। **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को...** आहाहा ! शुद्ध जीव अस्ति तो है परन्तु साथ में काय लगाया, क्योंकि असंख्य प्रदेश हैं, वह जीवास्तिकाय है। यह जैन परमेश्वर के सिवाय दूसरे किसी ने जीव को असंख्य प्रदेशी नहीं कहा। समझ में आया ? आहाहा ! इस कारण से कहा। श्रीमद् में भी एक ऐसा शब्द लिया है 'शुद्धबुद्ध चैतन्यघन' ये तीन शब्द पड़े हैं, तो शुद्ध है, वह त्रिकाल पवित्र है, बुद्ध वह ज्ञान का पिण्ड है और चैतन्यघन, वह असंख्य प्रदेश है। समझ में आया ? शुद्धबुद्ध चैतन्यघन। आहाहा ! मूल बात पड़ी रही। ऊपर से सब

करे। यह भगवान आत्मा शुद्धबुद्ध चैतन्यघन। चैतन्यघन, यह असंख्य प्रदेश है। आहाहा! श्रीमद् में ऐसा लेख है।

यह यहाँ कहा, शुद्ध जीव अर्थात् आत्मा। कोई आत्मा को जीव न कहे। जीव दूसरा और आत्मा दूसरा है, ऐसा कहे; इसलिए जीव शब्द प्रयोग किया गया है। आत्मा और जीव अलग चीज़ नहीं। वेदान्त कहता है कि रागसहित है, उसे जीव कहना और रागरहित निर्लेप शुद्ध चैतन्य है, उसे आत्मा कहना। समझ में आया? वेदान्त ऐसा कहता है परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए यहाँ शुद्ध जीवास्तिकाय शब्द प्रयोग किया है। आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर में शुद्ध पवित्र और अस्ति अर्थात् है और काय अर्थात् असंख्य प्रदेश है। समझ में आया? ऐसी चीज़... हम बहुत वर्ष पहले एक बार बड़ोदरा गये थे (संवत्) १९६४ का वर्ष होगा। अठारह वर्ष की उम्र थी। माल लेने गये थे – दुकान का माल लेने गये थे। तो हमने माल ले लिया, बाद में रात्रि को निवृत्ति थी तो हम नाटक देखने गये। वहाँ आगे अनुसूईया का नाटक चलता था। अनुसूईया कौन थी? भरुच के किनारे नर्मदा नदी है। वह नर्मदा और अनुसूईया दो बहनें थीं। हमें तो छोटी उम्र में बहुत अभ्यास था। क्या कहना है, सुनो, इसमें माल है।

नाटक में अनुसूईया स्त्री थी। वह कुँवारी स्वर्ग में जाती थी। कुँवारी समझते हो, विवाह किये बिना। उन लोगों में ऐसा है न कि अपुत्रस्य गति नास्ति। जिसे पुत्र न हो, उसे गति नहीं मिलती। ऐसी आवाज आयी। हमने उस दिन देखा है। यह तो अठारह वर्ष की उम्र की बात है। बहुत वर्ष हो गये। ७१ वर्ष पहले की बात है। तो वह स्त्री जाती थी तो कहा कि यहाँ स्वर्ग नहीं मिलेगा। क्यों? कि पुत्र नहीं। बाद में श्राद्ध डालते हैं न श्राद्ध? क्या कहते हैं? श्राद्ध को तुम्हारे हिन्दी में क्या कहते हैं? मर जाने के बाद श्राद्ध डालते हैं न? कौवे को खीर। तो उसका पिता वहाँ कौवा होकर आया होगा?

उस अनुसूईया को वहाँ स्वर्ग में से ऐसा कहा, तुम्हें पुत्र के बिना स्वर्ग नहीं मिलेगा। अब क्या करना? नीचे गिर। जो हो उससे विवाह कर। नीचे एक अन्धा ब्राह्मण था, उसके साथ विवाह किया, उसे एक पुत्र हुआ। ऐसा नाटक में बताते थे। पुत्र को झुलाती है। क्या कहते हैं तुम्हारे? झुलाना। झुलाना। झूलाते-झूलाते ऐसा कहती है, निर्विकल्पोसि बेटा! उदासीनोसि, सुद्धोसि, बुद्धोसि, निर्विकल्पोसि – ऐसा कहती थी। धन्नालालजी! ऐसा नाटक में सुना। मैंने कहा, यह क्या कहती है? भाई! तुम्हारी पुस्तक लाओ। तुमने बनायी

है, वह पुस्तक लाओ। तब बारह आने की टिकट थी और बारह आने की पुस्तक ली थी। तुम क्या बोलते हो, वह ख्याल में तो आना चाहिए। ऐसे के ऐसे सुन लें, ऐसे हम नहीं हैं। पुस्तक में ऐसा लिखा था। इसलिए वह स्त्री ऐसा बोलती थी। बेटा! निर्विकल्पोसि। अपने इसमें-बन्ध अधिकार में अन्त में है और सर्वविशुद्ध अधिकार में अन्त में और परमात्मप्रकाश में पीछे (आता है)। वे शब्द बहुत जगह हैं, परन्तु ये तो चार याद रह गये हैं।

सेठ! नाटक में ऐसा सुना था। तुम्हारे सम्प्रदाय में ऐसा कहते नहीं। नाटक में ऐसा कहते हैं कि बेटा! तू निर्विकल्प है। आहाहा! यह निर्विकल्प कहा न? यह १९६४ के वर्ष में बड़ोदरा में नाटक में सुना था। शुद्धोसि। बेटा! तू शुद्ध है, पवित्रता का पिण्ड है। नाटक में ऐसा कहते थे। आहाहा! शुद्धोसि, बुद्धोसि और उदासीनोसि। बेटा! तेरा आसन तो राग से भिन्न उदासीन होकर चैतन्य में तेरा आसन है, तेरी बैठक तो वहाँ है। दया, दान, व्रतादि विकल्प में तेरी बैठक, वह तू नहीं। आहाहा! कपूरचन्दजी! ऐसा नाटक में कहते थे। यहाँ तो अभी के सम्प्रदाय में एकान्त है.. एकान्त है.. अरे! सुन तो सही, प्रभु!

मुमुक्षु : नाटक में कहाँ से आया होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नाटक बनाया था। पहले के नाटक तो वैराग्यवाले थे। अभी तो फिल्म-विल्म सब व्यभिचारी जैसी भाषा। नाटक बतावे ऐसे स्त्री को हाथ डाले। बड़े शहर में फोटो बताते हैं न? अनैतिक। साठ वर्ष पहले नीति थी। नाटक में भी ऐसा करते थे। आहाहा! हमने तो अठारह वर्ष की उम्र में जहाँ सुना कि यह क्या कहती है? बेटा! तू निर्विकल्प है। आहाहा! विकल्प अर्थात् राग की पर्याय और रागादि। वे लोग इतना तो नहीं जानें परन्तु निर्विकल्प—विकल्प अर्थात् राग के भेदरहित निर्विकल्प प्रभु तू है। आहाहा! शुद्धोसि, बेटा! तू शुद्ध है, बुद्धोसि—ज्ञान का पिण्ड है। तू तो ज्ञान के स्वभाव का रसकन्द है। मात्र ज्ञानस्वभाव तुझमें भरा है। परिपूर्ण ज्ञान है। आहाहा! और उदासीनोसि – इतने चार शब्द याद रहे गये हैं। बहुत वर्ष हो गये न? ७१ वर्ष (हो गये)। बेटा! तू उदासीनोसि! तेरा आसन, तेरी बैठक राग और पुण्य और निमित्त में तेरी बैठक नहीं है। वह तू नहीं है। आहाहा! समझ में आया? समझ में आया?

यहाँ नहीं कहते? साधारण में बैठने जाते हैं। साधारण में बैठने जैसा वह तेरी योग्यता नहीं है। बड़ी अच्छी सभा में जाना, वह तेरी योग्यता है। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं उदासीनोसि। बेटा! इस राग, दया, दान के विकल्प में रहना, वह तेरा आसन नहीं है,

वह तेरी बैठक नहीं है। बैठक समझते हो न ? आसन। उदासीनो—उद-आसीन। आहा..हा.. ! यहाँ कहते हैं। यह तो ज्ञानी कहते हैं। वह तो अज्ञानी भी एक नाटक में ऐसा कहते थे। आहाहा ! यहाँ तो सम्प्रदाय में ऐसा कहने में आवे कि निर्विकल्प भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, वह राग का कर्ता हो तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! दया, दान, विकल्प आदि का कर्ता हो तो पवित्र प्रभु विकार का कर्ता हो तो विकार का कर्ता, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि विकार उसमें नहीं है। आहा.. ! उसका कर्ता होकर अपने पूरे आत्मा को विकारी माना है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! यह शुभभाव भी विकार है, इसका स्वयं को कर्ता माने तो पूरे आत्मा को विकारी माना है। आहाहा !

भगवान आत्मा शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में विभावस्वभावस्थान... पाठ में स्वभाव है। अर्थ में विभाव-स्वभाव कहा। आहाहा ! प्रभु ! तू कहाँ है ? आहाहा ! ऊपर का शरीर, वाणी, देह दिखती है, वह तो जड़ है, जड़ की पर्याय है। अन्दर में पुण्य-पाप के भाव हैं, वह उपाधि का विकार का विकारभाव है। यह यहाँ कहते हैं कि विभावस्वभावस्थान। विभावस्वभावस्थान नहीं हैं;... तुझमें वे हैं ही नहीं। आहाहा ! कैसे जँचे ? चेतनजी आये ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो निर्भेद का पूछना था। उन्हें संस्कृत है न थोड़ा, इसलिए। अभी कलश में आयेगा। आहाहा !

(यहाँ) पाठ में है कि **णो खलु सहावठाणा** भगवान पूर्णानन्द का नाथ सम्यग्दर्शन का जो विषय है। आहाहा ! जो सम्यग्दर्शन का ध्येय है, उस चीज़ जीवास्तिकाय में विभावस्वभावस्थान नहीं है। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधे, वह भी विभावस्वभाव है, वह अपने आत्मा में नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? वह विभावरूप। (**विभावरूप स्वभाव के स्थान**)... कहा न ? विभावरूप स्वभाव के स्थान नहीं हैं। आहाहा ! एक बात।

दूसरी। **णो माणवमाणभावठाणा** इसकी व्याख्या। (**शुद्ध जीवास्तिकाय को**) प्रशस्त या अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से... भगवान आत्मा, प्रशस्त अर्थात् शुभराग और अप्रशस्त अर्थात् अशुभराग... आहाहा ! और मोह। परसन्मुख की सावधानी का भाव, राग और द्वेष का अभाव होने से। भगवान आत्मा में राग-द्वेष का त्रिकाल अभाव है। जो सम्यग्दर्शन का विषय है, जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है,

वह जीवास्तिकाय मोह और राग-द्वेष के भाव से रहित है। आहाहा !

(शुद्ध जीवास्तिकाय को) प्रशस्त या अप्रशस्त समस्त मोह... शुभ मोह या अशुभ मोह। राग-द्वेष का अभाव होने से मान-अपमान के हेतुभूत... आहाहा ! कर्मोदय के स्थान नहीं हैं;... आहाहा ! समझ में आया ? मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं;... है ही नहीं। आहाहा ! किसी चीज़ की अनुकूलता हो जाना कि मैं सेठ हूँ, मैं पैसावाला हूँ ऐसा मान, तो कहते हैं वह मान स्वरूप में है ही नहीं, वह तो कृत्रिम खड़ा किया है। आहाहा ! जानपने का मान। प्रभु ! वह मान आत्मा में नहीं है, भाई ! अकेला ज्ञान का पिण्ड पड़ा है। आहाहा ! आनन्द का सागर है, इसमें मान कैसा ? वह मान-कर्मोदयजनित मान उसमें नहीं और अपमान भी उसमें नहीं। आहाहा ! मान-अपमान नहीं है। है न ?

अब हरिसभाव शुभपरिणति का अभाव होने से... क्या कहते हैं ? भगवान प्रभु, अकेला अतीन्द्रिय का सागर, रत्नाकर प्रभु में हर्ष नहीं है। तो हर्ष क्यों नहीं ? उसका कारण कहते हैं। किसी चीज़ को देखकर हर्ष होता है न ? वह हर्ष आत्मा में नहीं है। वह तो सब कृत्रिम विकार है। आहाहा ! तेरी दृष्टि वहाँ रह गयी, वह तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। वहाँ आत्मा नहीं है और जहाँ आत्मा है... आहाहा ! वहाँ शुभपरिणाम नहीं है। एक बात। क्या कहते हैं ? देखो !

(शुद्ध जीवास्तिकाय को) शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं है,... आहाहा ! शुभपरिणति का अभाव होने से। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप भगवान में शुभपरिणति की पर्याय का अभाव होने से। हर्ष नहीं है, ऐसा कहना है। हर्ष क्यों नहीं ? कि उस शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं है, शुभकर्म का अभाव होने से संसारसुख नहीं है,... संसार का सुख प्रभु में नहीं है। आहाहा ! विषय का सुख, इन्द्रिय के विषय में सुख, वह कल्पना का सुख, वह सुख वस्तु में नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? पैसे में सुख, स्त्री के शरीर के भोग में सुख... कहते हैं, प्रभु ! सुन तो सही, तुझमें शुभपरिणति का अभाव है। आहाहा ! और इस कारण तुझमें शुभकर्म नहीं है, अतः शुभकर्म के अभाव से... आहाहा ! वह सांसारिक सुख तुझमें (है ही नहीं)। आहाहा ! जो हरिसभावठाणा की व्याख्या है। जो हरिसभावठाणा है न ? तीसरा पद। हर्ष नहीं। क्यों ? हर्ष नहीं। क्यों ? कि शुभविकारी परिणति भी तुझमें नहीं, तो उससे कर्म बँधे, वह भी तेरा नहीं और शुभकर्म से प्राप्त सामग्री में हर्ष हो, वह भी तुझमें नहीं। भूतमलजी !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में नहीं आता ? आहाहा !

भगवान आत्मा में हर्ष नहीं। हर्ष अर्थात् संसार सुख नहीं। संसार सुख क्यों नहीं ? कि उसमें (आत्मा में) शुभपरिणति का अभाव है। शुभपरिणति का अभाव होने से उसमें शुभकर्म नहीं और शुभकर्म का अभाव होने से बाह्य संसार का सुख उसमें है ही नहीं – ऐसा कहते हैं। आहाहा ! शुभकर्म के अभाव से लक्ष्मी आदि मिलना, करोड़ों रुपये के बंगला मिलना (है ही नहीं, आत्मा में) आहाहा !

मुमुक्षु :आनन्द आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी आनन्द नहीं है। उसे मानता है, वह दुःख है, मूढ़ है। अभी अजमेर में शिक्षण शिविर हुआ, दो करोड़ रुपये के बंगले में हुआ। ऐसा सुना है। अजमेर में शिक्षण शिविर में गये थे या नहीं ?

मुमुक्षु : हाँ, बंगले पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : बंगले पर ऐसा कहते थे। पन्द्रह करोड़ का लिया था। ओहो.. ! रत्नलालजी कलकत्तावाले ने करोड़ रुपये का लिया था। उसमें शिविर के लोग आते थे। परन्तु मकान तो यह कहते हैं कि उस मकान से मुझे सुख है, तो हम कहते हैं कि उस सुख का कारण शुभकर्म; शुभकर्म का कारण शुभपरिणति। वह शुभपरिणति ही तुझमें नहीं तो हर्ष का स्थान कहाँ से आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! यह अधिकार ही सूक्ष्म है। शुद्धभाव अधिकार। शिक्षण शिविर में यह लेना है, ऐसा विचार आया था। हमारे पण्डितजी आये नहीं। वरना पण्डितजी को ही पूछना था, भाई ! यह तुम्हारे शिक्षण शिविर बहुत होते हैं तो उसमें क्या लेना ? एक दिन देरी से आये। तुम तो सर्वत्र जाते हो न ? शिक्षण शिविर चलता है तो अपने यहाँ क्या लेना ? शुद्धभाव का विचार हुआ। रामजीभाई कहते हैं, यह अच्छा है और इसमें शुद्ध (भाव) अधिकार लेना है। वरना समयसार का निर्जरा अधिकार चलता था और दोपहर को प्रवचनसार का अधिकार चलता था, परन्तु प्रवचनसार का ज्ञेय अधिकार सूक्ष्म है। लोगों को... आहाहा !

आत्मा में संसार में सुख है, ऐसी कल्पना जो होती है, वह आत्मा में क्यों नहीं ? कि आत्मा में शुभपरिणति से पुण्य बँधे और पुण्यबंध से सुविधा मिले और उसमें सुख

मानना... परन्तु तुझमें शुभपरिणति का ही अभाव है। आहाहा! समझ में आया? जिस भाव से तीर्थकर गोत्र बँधता है, उस भाव का तेरे स्वभाव में अभाव है। आहाहा! आत्मा पर दृष्टि करना.. आहाहा! कैलाशचन्दजी का लेख आया है। कि जहाँ हो, वहाँ समयसार.. समयसार.. पूरे हिन्दुस्तान में। इसका कारण कानजीस्वामी है, ऐसा लिखा है। समयसार में निश्चय की बात है, परन्तु व्यवहार को छोड़ देना, ऐसा कैसे बने? ऐसा करके थोड़ा लिखा है। सन्मतिसंदेश दिल्ली में आया है। हितैषी।

अरे भगवान! यहाँ तो तुझमें शुभपरिणति है ही नहीं—ऐसा पहले निर्णय हुए बिना तुझे आत्मा का निर्णय नहीं, तो तेरी शुभपरिणति की कीमत क्या? आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! प्रभु आत्मा में हर्ष के स्थान नहीं अर्थात् अनुकूल सामग्री में हर्ष आता है, प्रसन्नता होती है, प्रमोद आता है, वह संसार सुख का विकल्प है। वह सुख आत्मा में नहीं है। क्यों नहीं? इस सुख का कारण कर्मबंधन शुभ और शुभकर्म का कारण शुभपरिणति और शुभपरिणति का तो आत्मा में अभाव है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। सेठ! पैसे का सुख आत्मा में नहीं है, ऐसा कहते हैं। रामजीभाई तर्क करते हैं कि यहाँ तो ऐसा कहा जाता है, वहाँ घर जाकर कैसे कहा जाये? घर में जायें तो घर आत्मा का घर, वह घर है। वह स्व में जाने का है। वहाँ शुभपरिणति का कारण शुभबन्ध और शुभबन्ध का कारण संयोग और उसमें कल्पना करना कि स्त्री का सुख, अच्छी रूपवान सुन्दर स्त्री मिली और पाँच, पच्चीस, पचास लाख लेकर आयी। पिताजी करोड़पति थे। लड़का नहीं था, अकेली लड़की ही थी। आहाहा! अभी एक लड़की गुजर गयी न? उसके पिताजी ने उसके विवाह में तीस-चालीस हजार खर्च किये थे। एक ही लड़की थी। अभी कौन (विवाहित हुआ था?) वह अपने को कहाँ सब याद रहता है? परन्तु अभी समाचार पत्र में आया था। अपने सम्बन्ध में था। उस लड़की के विवाह में खर्च किये और उसके पिताजी को एक ही लड़की थी तो विवाह में चालीस हजार खर्च किये थे परन्तु एकदम कुछ का कुछ हो गया और देह छूट गयी।

मुमुक्षु : वढ़वानवालेजी।

पूज्य गुरुदेवश्री : चुढ़गढ़। चुढ़गढ़ की लड़की। उस चुढ़गढ़ की लड़की के विवाह में चालीस हजार खर्च किये थे। लड़का नहीं था। चुढ़गढ़। किसने कहा? चुढ़गढ़ है। वे वेरिस्टर थे न? भाई! वे व्याख्यान सुनने आये थे। बेरिस्टर क्या नाम कहा?

मुमुक्षु : पोपटलाल ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पोपटलाल बेरिस्टर । बड़े बेरिस्टर थे । यहाँ व्याख्यान सुनने आये थे । (संवत्) १९९३ के वर्ष की बात है । व्याख्यान सुनने आये थे, तब यह मकान नहीं था - यह स्वाध्यायमन्दिर नहीं था, चारों ओर जंगल था । गुरुकुल है न ? वहाँ व्याख्यान में आते थे । गुरुकुल आर्य समाज में व्याख्यान चलते थे । सब आये थे । भावनगर दरबार के दीवान आये थे । क्या नाम ? प्रभाशंकर दीवान । वे भी व्याख्यान सुनने आये थे । १९९३ के वर्ष । सुनकर ऐसा कहा कि हम तो कर्म के आधीन पड़े हैं । कोई जीव स्वभाव के साधनवाला है, कोई कर्म के आधीन हुआ है । अरे ! कर्म के आधीन तू पड़ा है तो वह कर्म से नहीं, तेरी विपरीत दृष्टि से । बड़े दीवान थे । व्याख्यान में आये थे । प्रभाशंकर पट्टणी आते थे । सब दरबार भी आते थे । बड़े दरबार भी व्याख्यान में आते थे । लीमड़ी में आते हैं, वढवाण में आते हैं । यहाँ आये थे । पालीताणा के दरबार, भावनगर के दरबार । नाम सुनकर सब आते हैं और अन्दर पुण्य प्रकृति भी है न, वह देखकर आते हैं, परन्तु भाई ! वस्तु दूसरी है । यह पुण्य प्रकृति शुभभाव से बँधती है और पुण्य प्रकृति से संयोग मिलते हैं, उसमें सुख मानना, यह मिथ्यादृष्टि मानता है । आहाहा ! उसे जैन की खबर नहीं है । जैनपना किसे कहना, इसकी उसे खबर नहीं है । आहाहा ! कपूरचन्दजी ! ये भी पैसेवाले हैं । बहुत लाखोंपति ।

मुमुक्षु : यह कब पैसेवाला था ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दुनियावाले कहते हैं न, कि कपूरचन्द बहुत पैसेवाला है, बहुत लाखोंपति है, ऐसा कहते हैं । ये हमारे भभूतमलजी यहाँ रहे । दो करोड़ रुपये, यह हमारी घीयाजी, करोड़ों रुपये । करोड़ से ऊपर है । इसमें क्या है ? वह तो पूर्व की धूल है । इस शुभभाव की धूल है । यह हमारे माणिकचन्दजी हैं, इनके पास बहुत पैसा है । हम इनके गाँव में गये थे । इनके मकान के सामने ही उतरे थे । इनके पिताजी हैं, प्रेम है । दोनों को प्रेम है, हों ! बापू ! सुनने की यह चीज़ है । वह बाह्य की चीज़ प्रभु ! अरबों पैसा (रुपया) हो, परन्तु उसमें सुख मानना, वह मिथ्यादृष्टि है । क्यों ? कि उस सुख की कल्पना, स्वरूप में नहीं है ।

त्रिकाली भगवान आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर में विराजमान है, उसमें हर्ष के स्थान क्यों नहीं ? जगत की अनुकूलता की प्रपञ्च सामग्री में से हर्ष अर्थात् प्रसन्नता होना, वह प्रसन्नता आत्मा में नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि उसमें शुभपरिणति नहीं और

शुभपरिणति पर्याय नहीं तो शुभबन्धन भी नहीं; शुभबन्धन नहीं तो शुभ से अनुकूलता मिलती है, वह भी उसमें है ही नहीं और अनुकूलता मिलने के बाद हर्ष होता है, वह भी वस्तु में नहीं। आहाहा! गजब काम, भाई ऐसा! सम्यग्दर्शन। आहाहा! एक बात।

संसारसुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं हैं;... इतने बोल लिये। देखो! एक हर्षस्थान नहीं, इसमें कितना लिया! एक तो शुभपरिणति नहीं, शुभविकार जो दया, दान, व्रत, वह आत्मा में नहीं। शुभपरिणति नहीं तो शुभकर्म नहीं; शुभकर्म नहीं तो शुभसामग्री अनुकूल (सामग्री) नहीं, तो अनुकूल है, उसमें हर्ष मानना, वह संसारसुख आत्मा में नहीं है। है? **संसारसुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं हैं;**... आहाहा! किसी भी बाह्य चीज़ में अनुकूलता में कुछ भी अन्तर में विस्मयता, अधिकता, विशेषता, अपनी चीज़ से पर में विस्मयता भासित हो, वह स्वरूप आत्मा में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अपनी चीज़ जो **‘णाणसहावाधियं’** आहाहा! (समयसार) ३१वीं गाथा में तो यहाँ तक कहा है, भगवान् इन्द्रियजिणिता। वह तो इन्द्रियों को जीतनेवाला है। इसका अर्थ कि पाँच इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय जड़ और क्षयोपशमभाव पाँच इन्द्रिय – दो और इन्द्रियों के विषय देव-गुरु-शास्त्र सब इन्द्रिय।

तीन लोक के नाथ केवलज्ञानी समवसरण में विराजते हैं, उन्हें यहाँ इन्द्रिय कहते हैं। अपने अनीन्द्रिय आत्मा की अपेक्षा उन्हें इन्द्रिय कहा है। आहाहा! तो उस इन्द्रिय से भिन्न **‘णाणसहावाधियं मुणदि आदं’** यह शब्द ३१ (गाथा में) है। यह तो भगवान् आत्मा, भगवान् और भगवान् की वाणी से भी भिन्न है। आहाहा! भगवान् की दिव्यध्वनि और यहाँ तो भगवान् को इन्द्रिय में गिनने में आया है। भगवान् आत्मा अतीन्द्रिय है और यह सब इन्द्रिय है। जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय, भाव इन्द्रिय एक-एक विषय को जाननेवाले भावेन्द्रिय और उसका जो विषय है, उन तीनों को इन्द्रिय कहा है। आहाहा!

परमागम भगवान् की (वाणी) सुनना, उसे कहते हैं कि वह तो इन्द्रिय है। आहाहा! गजब बात है। एक ओर ऐसा कहे कि भाग्य उदय से भगवान् की दिव्यध्वनि आती है। आता है न? **‘भविजन भाग्य उदय से...’** बात सत्य है। पुण्य हो तो ऐसी वाणी (सुनने को मिलती है) परन्तु उस चीज़ का लक्ष्य करना, वह उस अनीन्द्रिय स्वभाव को भूलकर इन्द्रिय (सन्मुख लक्ष्य करना) है। अपने अनीन्द्रिय स्वभाव में वह चीज़ नहीं है, अतः उसे इन्द्रिय कहा गया है। आहाहा! यहाँ कहते हैं, उसे सुनने से हर्ष होता है, वह आत्मा

में नहीं है। सुनने में जो हर्ष-राग आया, राग, हों! कठिन बात है, प्रभु! वह हर्ष आत्मा में नहीं है। आहाहा! फिर दुःख।

(शुद्ध जीवास्तिकाय को) अशुभपरिणति का अभाव होने से... भगवान में अशुभपरिणाम नहीं। प्रभु द्रव्यस्वभाव त्रिकाली चैतन्य ज्योत प्रभु, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, जो सम्यग्दर्शन को अवलम्बन लेने की चीज़ है, वह जीवास्तिकाय जो शुद्ध चैतन्यघन प्रभु है, उसमें अशुभपरिणति का अभाव है और अशुभ पर्याय जो विकृत अशुभ होती है, उसका उसमें अभाव है। आहाहा! **अशुभकर्म (परिणति) का अभाव होने से...** अशुभकर्म नहीं है। अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म का बन्ध आत्मा में नहीं है। आहाहा! भारी कठिन बात! और **अशुभकर्म का अभाव होने से दुःख नहीं है...** अशुभपरिणति नहीं होने से अशुभकर्म नहीं है; अशुभकर्म नहीं होने से दुःख नहीं है। सांसारिक दुःख। पूर्व के पाप के कारण प्रतिकूलता आ जाये, पापबन्धन हो, पाप हुआ; इसलिए पाप से बन्धन हुआ और बन्धन से प्रतिकूलता हुई। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पाप ही आत्मा में नहीं, तो फिर अहर्षस्थान-दुःख, वह तो आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : सब आत्मा को दुःख तो देखने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दुःख तो दशा में है। वस्तु में नहीं। जिसकी दृष्टि द्रव्य पर है, वह अपने में दुःख है, ऐसा मानता ही नहीं। आहाहा! कहो, डाह्याभाई! यह तुम्हारे जज में भी ऐसे शब्द वहाँ नहीं आये होंगे। सरकार ने गप्प मारी हो, वह जज में चलता है। अहमदाबाद में बड़े जज हैं। अब तो छोड़ दिया। नौकरी छोड़ दी। आहाहा! सरकार जो कानून बनावे, तदनुसार करे। यह तो वीतराग के कानून हैं। यह तो वीतरागी कॉलेज है। आहाहा!

कहते हैं कि आत्मा में दुःख नहीं। क्यों नहीं? अशुभपरिणति ही नहीं तो दुःख कहाँ से आया? और अशुभपरिणति नहीं, इसलिए उसमें अशुभकर्म भी नहीं। अशुभकर्म नहीं, इसलिए प्रतिकूल संयोग भी उसमें नहीं। प्रतिकूल संयोग नहीं तो, प्रतिकूल संयोग में मुझे दुःख होता है, यह वस्तु उसमें नहीं। आहाहा! पहले अभी दृष्टि का ठिकाना नहीं। आहाहा! यह प्रतिमा ले ली और व्रत ले लिये... हमारे रामजीभाई तो कहते हैं कि ग्यारह प्रतिमा क्या,

सोलह होवे तो सोलह प्रतिमा ले ले। भान कहाँ है ? यह तो ग्यारह है, अधिक (हो तो वह ले ले)। भान तो कुछ है नहीं। आहाहा !

अशुभकर्म का अभाव होने से दुःख नहीं है, दुःख का अभाव होने से अहर्षस्थान नहीं है। आहाहा ! अब श्लोक ।



श्लोक-५५

(अब, ३९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्विम्बाकृतावात्मनि ।
चैतन्यामृत-पूर-पूर्ण-वपुषे प्रेक्षावतां गोचरे,
बुद्धिं किं न करोषि वाञ्छसि सुखं त्वं सन्सृतेर्दुःकृतेः ॥५५॥

(वीरछन्द)

प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद अन्तर्मुखी प्रगट सुखरूप ।
नभमण्डलवत् अकृत, चैतन्यामृत से भरपूर स्वरूप ॥
अहो विचारक पुरुष गम्य जो उसमें रुचि क्यों नहीं करे ?
पापरूप सांसारिक सुख की अभिलाषा क्यों मूढ़ करे ॥५५॥

टीका:—जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है; जो सर्वथा अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ, नभमण्डल समान आकृतिवाला^१ (अर्थात् निराकार-अरूपी) है; चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है; जो विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है—ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है ॥५५॥

१. अकृत=किसी से नहीं किया गया। (जिस प्रकार आकाश को किसी ने बनाया नहीं है, उसी प्रकार आत्मा को किसी ने नहीं बनाया है; आत्मा अन्तर्मुख प्रकट अतीन्द्रिय सुख का पिण्ड है, स्वयंसिद्ध शाश्वत है।)

श्लोक-५५ पर प्रवचन

(अब, ३९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं-)

प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद अन्तर्मुखी प्रगट सुखरूप।

नभमंडलवत् अकृत, चैतन्यामृत से भरपूर स्वरूप॥

अहो विचारक पुरुष गम्य जो उसमें रुचि क्यों नहीं करे ?

पापरूप सांसारिक सुख की अभिलाषा क्यों मूढ़ करे ॥५५॥

अब क्या आया ? देखो ! प्रश्न ऐसा था कि इसमें निर्भेद शब्द पड़ा है । दूसरी लाईन में । निर्भेद का अर्थ यहाँ ऐसा किया कि भेदरहित । भेदरहित अर्थात् अभेद । भगवान् अभेदस्वरूप है । उसमें पर्याय का भेद भी उसके स्वरूप में नहीं । आहाहा ! समझ में आया ? यह... चेतनजी को यह पूछना था कि इस निर्भेद का अर्थ 'प्रगट' किया है, वह क्या है ? वे व्याकरण जानते हैं । हमारे पण्डितजी को तो पहले पूछा था, परन्तु इस निर्भेद का अर्थ यह । भगवान् आत्मा में भेद है नहीं । अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य, सम्यग्दर्शन का विषय जो आत्मा, वह तो अभेदस्वरूप अखण्डानन्द है । आहाहा ! उसमें तो पर्याय भी नहीं, ऐसा कहते हैं । निर्भेद करने से, पर्यायभेद है । आहाहा ! भगवान् अन्दर विराजमान परमात्मा में भेद ही नहीं है । निर्भेद-अभेद है । आहाहा ! आचार्य कहते हैं कि मैंने मेरे लिये बनाया है । इसमें यह लेख आया है । आहाहा ! मेरी भावना के लिये मैंने नियमसार बनाया है । अन्तिम गाथा में है न ? आहाहा !

भगवान् आत्मा में जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है;... आहाहा ! प्रीति-अप्रीति तो क्षणिक विकृतदशा है । भगवान् तो शाश्वतपद है । नित्यानन्द प्रभु ध्रुव है । आहाहा ! भारी कठिन । जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है; जो सर्वथा अन्तर्मुख... है ? 'निःशेषतोऽन्तर्मुख' यह संस्कृत में लिखा है । 'निःशेषतोऽन्तर्मुख' सर्वथा प्रकार से अन्तर्मुख चीज़ है । बहिर्मुख विकल्प आदि में आत्मा नहीं है । आहाहा ! ज्ञानी को भी शुभराग आता है, परन्तु उस शुभराग में मैं हूँ, ऐसा नहीं मानते । मैं तो रागरहित हूँ । मेरा जीवास्तिकाय शाश्वत् टंकोत्कीर्ण पद है । जैसा है, वैसा अनादि टंकोत्कीर्ण शाश्वत मैं हूँ ।

मेरी चीज़ में अशाश्वत्ता भी नहीं है तो राग और पुण्य-पाप की बात ही कहाँ है ? आहाहा ! ऐसी व्याख्या अब ।

सर्वथा अन्तर्मुख । है ? अन्तर्मुख वस्तु है । बहिर्मुख विकल्प या पर्याय उसमें है ही नहीं । प्रगट प्रकाशमान उसका इतना अर्थ किया । निर्भेद का अर्थ यह किया । निर्भेद और उदित दो शब्द पड़े हैं । मैंने यहाँ प्रश्न किया कि निर्भेद का अर्थ प्रगट क्यों किया ? परन्तु उसका अर्थ यह हुआ, निर्भेद अर्थात् अभेद, अभेद अर्थात् त्रिकाल प्रगट स्वरूप अभेद है । आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा उपदेश है । इसे मूल सत्य बात तत्त्व की (कान में पड़ी नहीं) । नवतत्त्व स्वतन्त्र किस प्रकार है, इसकी भी खबर नहीं । उसे धर्म किस प्रकार हो ? आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, प्रगट प्रकाशमान । निर्भेद उदित । अभेदरूप से प्रकाशमान, प्रगट प्रकाशमान है । चैतन्यसूर्य... आहाहा ! और शीतलता से भरपूर जैसे चन्द्र शीतल है, वैसा अनन्त-अनन्त चन्द्र की शीतलता से विपरीत यह शीतलता है । आहाहा ! ऐसा शीतलता का पिण्ड प्रभु प्रगट है । वस्तु है, वह प्रगट है । आहाहा !

(समयसार) ४९ गाथा में ऐसा कहा कि पर्याय व्यक्त है और आत्मा अव्यक्त है । ४९ (गाथा में) अव्यक्त के छह बोल हैं न ? उनमें ऐसा लिया है । खबर है न ! आत्मा अव्यक्त है । क्यों ? वह तो पर्याय प्रगट है, इस अपेक्षा से अव्यक्त है परन्तु वस्तु अन्तर में तो प्रगट है । आहाहा ! छह बोल हैं न ? अव्यक्त के छह बोल हैं ।

छह द्रव्यों का समूह । छह द्रव्यों का समूह, तो छह द्रव्यों में भगवान भी आ गये । पंच परमेष्ठी आ गये । छह द्रव्यों का समूह व्यक्त है, उससे भगवान भिन्न है, इसलिए अव्यक्त है । पहला बोल है । छह बोल में पहला बोल है । वहाँ व्यक्त है, बाह्य की चीज़ व्यक्त है, ज्ञेय है, उससे भिन्न ज्ञायक अभेद है और अव्यक्त है । आहाहा ! परन्तु वह अव्यक्त तो पर्याय की प्रगटता की अपेक्षा से, पर्याय में उस द्रव्य की प्रगटता नहीं, इस अपेक्षा से अव्यक्त कहा है । बाकी वस्तु तो विद्यमान प्रगट है । निर्भेद उदित । अभेद प्रकाशमान चैतन्यसूर्य प्रभु विराजमान है । आहाहा ! तेरी नजर, पर्याय में उस ओर का झुकाव नहीं हुआ । बाकी क्रियाकाण्ड, व्रत और दिगम्बर का मुनिपना अनन्त बार लिया । आहाहा ! अपना स्वरूप

निर्भेद प्रगट है, उसकी दृष्टि नहीं की, विश्वास में नहीं आया, रुचि में नहीं लिया। इस कारण उसका चार गति में भ्रमण है। आहाहा!

बाह्य की सामग्री छोड़ दी और दिगम्बर नग्न मुनि हुआ, परन्तु मैं बाहर का छोड़ूँ और अन्तर का राग ग्रहण करूँ, यह ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। अमुक सामग्री छोड़ूँ और अमुक सामग्री नग्नपना आदि ग्रहण करूँ, यह आत्मा में है ही नहीं। पर के त्याग-ग्रहण से आत्मा शून्य है। आहाहा! ४७ शक्ति में त्याग-उपादान शून्यत्वशक्ति है। शरीर से, कर्म से त्याग और कर्म का तथा शरीर का ग्रहण, उससे भगवान रहित है। आहाहा! त्रिकाल रहित है। शरीर और कर्म से त्रिकाल ग्रहण-त्याग से रहित है। ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! अरे! परन्तु तेरी दृष्टि पर के ऊपर है। जाननेवाले को जाना नहीं, देखनेवाले को देखा नहीं और इस पर को जानने में और देखने में रुक गया है, वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसी बात है। आहाहा! जाननेवाला अन्दर... यह कहा, देखो!

प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ,... है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से बना हुआ है। बना है अर्थात् है। पाठ तो ऐसा है न? संस्कृत में 'निर्मित' शब्द है न? 'निर्भेदोदितशर्मनिर्मित'... शर्म अर्थात् सुख और 'निर्मित' अर्थात् है। आहाहा! सुख का बना हुआ,... है। अतीन्द्रिय आनन्द से बना हुआ भगवान आत्मा है। आहाहा! बना हुआ,... इसका अर्थ? अतीन्द्रिय सुखस्वरूपी ही है। उसे अतीन्द्रिय सुख बाहर से लाना है, ऐसा नहीं है। अतीन्द्रिय सुख का सागर है। आहाहा! ऐसे सुख का बना हुआ,... भाषा निर्मित है न? सुख से निर्मित है, आनन्द से निर्मित है। प्रभु आत्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द से निर्मित है अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का बना हुआ है।

मुमुक्षु : पर्याय में आना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय-पर्याय नहीं, यहाँ तो त्रिकाली चीज है।

मुमुक्षु : पर्याय में आना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय नहीं। जो पर्याय दृष्टि करती है, उसमें यह नहीं। जो पर्याय दृष्टि करती है, उसमें वह पर्याय है ही नहीं। आहाहा! सुख का बना हुआ,... अर्थात् पर्याय में सुख आया, यह बात नहीं है। आहाहा! पर्याय में सुख...

मुमुक्षु : उसका बना हुआ है अर्थात्.....

पूज्य गुरुदेवश्री : उस बने हुए का अर्थ कि वह तो सुखस्वरूप ही है। आहाहा ! वह तो त्रिलोक में छह द्रव्य की रचना है, ऐसा कहने में आता है। त्रिलोक छह द्रव्य से रचा हुआ है, ऐसा पंचास्तिकाय में आता है। इसका अर्थ कि छह द्रव्य स्वरूप ही लोक पड़ा है। अकृत्रिम-किसी ने बनाया नहीं। आहाहा ! कोई ईश्वरकर्ता नहीं। द्रव्य-गुण-पर्याय सत् है, वह स्वयं से है। सत् है, वह स्वयं से है, पर से नहीं। वह बना हुआ है, ऐसा वहाँ भी कहा, उसका अर्थ यह कि छह द्रव्य है। छह द्रव्य से बना हुआ लोक है, उसका अर्थ कि छह द्रव्यस्वरूप है; ऐसे यहाँ कहते हैं सुखसागर से बना हुआ है। आहाहा ! इसका अर्थ कि सुखस्वरूप है। आहाहा !

नभमण्डल समान अकृत है;... क्या कहते हैं ? आकाश किसी से बना हुआ नहीं है। आकाश किसी ने बनाया नहीं है। जिस प्रकार आकाश को किसी ने नहीं बनाया, उसी प्रकार आत्मा को भी किसी ने नहीं बनाया। आत्मा अन्तर्मुख प्रगट अतीन्द्रिय सुख का पिण्ड है। स्वयंसिद्ध शाश्वत है। उसे किसी ईश्वर ने बनाया है ? आहाहा ! है, उसे बनावे कौन ? न होवे, उसे बनावे कौन ? आहाहा ! परन्तु विश्वास आना.. आहाहा ! पर्याय को अन्तर में झुकाना, यह साधारण बात नहीं है। अपूर्व पुरुषार्थ है। पर्याय को अन्तर्मुख ले जाना, जहाँ पूर्ण प्रभु है, वहाँ पर्याय को ले जाना, पर्याय को झुकाना... आहाहा ! तो कहते हैं, पर्याय जिसमें झुकती है, वह वस्तु कैसी है ? आहाहा !

नभमण्डल समान अकृत है;... जैसे आकाश को किसी ने बनाया नहीं। आकाश को कौन बनावे ? सर्व व्यापक को कौन बनावे ? वैसे भगवान **नभमण्डल समान अकृत है;...** आहाहा ! **चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है;...** चैतन्य के अमृत के पूर से... अमृत का पूर। पानी का प्रवाह-पूर होता है न ? वैसे भगवान (अमृत के प्रवाह का पूर है) आहाहा ! ध्रुव अमृत का पूर। ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... प्रवाह अनादि-अनन्त चलता है। आहाहा ! कहो, यशपालजी ! ऐसी बात है। आहाहा ! है ?

चैतन्यामृत.... चैतन्य का अमृत। आहाहा ! यहाँ तो आम हो और ऐसा हो तो अमृत समान है, ऐसा लोग लगा लेते हैं। धूल में भी कुछ नहीं है, वह तो पुद्गल है। मिट्टी की दशा है। यह भी मिट्टी है। आहाहा ! नोंक शरीर में लगती है न ? शरीर में लोहखण्ड की

कील लगे तो कहता है मेरी मिट्टी पकनेवाली है, इसलिए पानी लगाना नहीं। कहते हैं न ? मेरी मिट्टी, यह मिट्टी पकनेवाली है, इसलिए पानी नहीं लगाना। नोंक या लोहखण्ड की जंगवाली कील लगी हो... काट (जंग) को क्या कहते हैं ? जंग। लोहखण्ड की जंगवाली कील लगी हो तो कहे, मेरी मिट्टी पकाऊ है, इसलिए पानी नहीं लगाना। यह तो मिट्टी है। फिर एक ओर मिट्टी कहे और एक ओर कहे मेरा शरीर है। आहाहा ! यह शरीर तो नहीं परन्तु अकृत्रिम चैतन्यमृत के पूर से भरपूर है।

चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है; जो विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है... देखो ! पहले ऐसा कहा कि चार भाव से अगोचर है। यहाँ कहते हैं, विचारवन्त पुरुषों से गोचर है। वह तो चार भाव के आश्रय से अगोचर है। समझ में आया ? **विचारवन्त चतुर पुरुषों को...** देखो ! उन्हें चतुर कहते हैं। ज्ञानी पुरुष को चतुर कहते हैं और उस चतुर पुरुष को गम्य है। आहाहा ! बाहर का वकालात आदि का जानपना, वह कोई चतुराई नहीं, वह तो सब कुज्ञान है। आहाहा ! चतुराई तो उसे कहते हैं,... कहते हैं... आहाहा ! **विचारवन्त चतुर पुरुषों को...** है ? 'प्रेक्षावतां' है न ? 'प्रेक्षावतां' 'प्रेक्षावतां' संस्कृत में 'प्रेक्षावतां' देखनेवाले के विचारवन्तवाले के। आहाहा ! ऐसा पाठ में शब्द पड़ा है। यह तो अपनी बात अपने से होती है, ऐसी बात है। दूसरे कोई विकल्प से और बाहर से होता है, ऐसी बात नहीं है। ऐसी बात है।

ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता... ऐसे भगवान में तेरा पोषण क्यों नहीं होता ? और तू अज्ञान को, राग को, 'मेरा' मानकर मिथ्यात्व का पोषण करता है। आहाहा ! **तू रुचि क्यों नहीं करता और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है ?** ऐसा उलहाना दिया है। जहाँ अन्तर का सुख पड़ा है, वहाँ रुचि क्यों नहीं करता ? और जिसमें सुख नहीं है, वहाँ रुचि क्यों करता है ? यह तेरा अज्ञान है, उसे छोड़ दे- ऐसा कहते हैं।

विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)